नई गुलामी और प्रेमचंद

प्रफुल्ल कोलख्यान

प्रेमचंद और आज के कुछ सवालों पर विचार करने का सबसे महत्त्वपूर्ण और कारगर आधार यह भी है कि प्रेमचंद का जीवन आजादी के लिए संघर्षरत गुलाम भारत में हुआ था। इस गुलामी का स्वरूप राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक औपनिवेश के संदर्भों से विनिर्मित था और आजादी का संघर्ष उन से मुक्ति की आकांक्षा में अभिव्यक्त हो रहा था। इस बाहरी उपनिवेश के समानांतर और उससे भी अधिक खतरनाक एक और उपनिवेश भारत में सक्रिय रहा है और वह है आंतरिक उपनिवेश। मेरी अपनी भी यह दृढ़ मान्यता है कि संस्कृति कर्म अपने स्वभाव में ही सामाजिक और जातीय कर्म हुआ करता है। कोई महत्त्वपूर्ण लेखक जीवन को अनुपस्थित कर बनाये गये किसी प्रकार के एकांत में रहकर लेखन कार्य नहीं करता है, और न ही कर सकता है। प्रेमचंद जैसे महत्त्वपूर्ण लेखक के संदर्भ में तो ऐसा होने का कोई सवाल ही उत्पन्न नहीं होता है। अपने समय के और उससे पहले हो चुके महत्त्वपूर्ण और आम लोगों की भी संवेदना के वैचारिक सूत्रों से सर्जनात्मक स्तर पर जुड़े बिना समय का सकर्मक लेखन संभव ही नहीं होता है। प्रेमचंद और उनके पहले के समय के बड़े लोगों में कई महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्वों के कृतित्वों को अपने वैचारिक विश्लेषण के आधार रूप में स्वीकृत करना चाहिए। आधुनिक हिंदी का प्रत्येक बड़ा लेखक उस राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक उपनिवेश और आंतरिक उपनिवेश से अपने स्तर पर जूझ रहा था। इस दृष्टि से ***आचार्य रामचंद्र शुक्ल और बौद्धिक उपनिवेशवाद*** में किये गये डॉ. शंभुनाथ के महत्त्वपूर्ण विश्लेषण को ध्यान से पढ़ा जाना जरूरी है। डॉ. पुरुषोत्तम अग्रवाल की पुस्तक ***संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध*** में आये विश्लेषण को भी घ्यान में रखा जाना चाहिए।

प्रेमचंद के लेखन का महत्त्व इस बात में है कि वे उस राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक एवं आंतरिक उपनिवेश और उन उपनिवेशों से उत्पन्न समसयाओं से जूझते हुए अपना सांस्कृतिक कर्म कर रहे थे। इस आंतरिक और बाहरी दोनों ही प्रकार के उपनिवेश से उत्पन्न समसयाओं के विरूद्ध लड़नेवाले हमारे सब से महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक योद्धा का नाम प्रेमचंद है। प्रेमचंद और महात्मा गाँधी दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में काम करते हुए इस आंतरिक उपनिवेश की असली चुनौती और उसके खतरों को गहराई से समझ रहे थे। बाहरी उपनिवेश से तो राजनीतिक औजारों से निपटा जा सकता है लेकिन आंतरिक उपनिवेश से निपटने के लिए अपनी जातीय संस्कृति के स्मृतिकोश से चयनित तत्त्वों से विनिर्मित कारगर सांस्कृतिक औजार की ही जरूरत हुआ करती है। हमारे जातीय संस्कृति के स्मृतिकोश में वैसे भी आत्मविरोधी तत्त्वों की भरमार है ऊपर से उस कोश में औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा फैलाये गये प्रदूषणों के कारण उस समय आंतरिक उपनिवेश की चुनौती और भी बढ़ गई थी। यह भी कि आंतरिक उपनिवेश की स्थिति बाहरी उपनिवेश के लिए प्रभावी

जगह बना रही थी। महात्मा गाँधी और प्रेमचंद दोनों ही इससे अच्छी तरह से अवगत थे। प्रेमचंद के भौतिक और सर्जनात्मक जीवन काल में ही मुख्य रूप से महत्मा गाँधी के नेतृत्व में भारतीय स्वतंत्रता के लिए महान ऐतिहासिक जनसंग्राम हुआ। यह जनस्वतंत्रता संग्राम आंतरिक और बाहरी दोनों ही प्रकार के उपनिवेश के विरूद्ध था। ***स्वराज से किसका हित होगा*** इस पर प्रेमचंद ने *हंस* के अप्रैल 1930 के अंक में लिखा : *इसमें संदेह नहीं कि स्वराज का आंदोलन गरीब, किसानों का आंदोलन है।* लेकिन इस जनस्वतंत्रता संग्राम की कतिपय सीमाओं को खुद महात्मा गाँधी भी अच्छी तरह समझ रहे थे और प्रेमचंद भी समझ रहे थे। दोनों को ही भय था कि कहीं मि. जॉन की जगह सेठ गोबिंदी के आ जाने तक का ही आधार बनकर यह जनसंग्राम न रह जाये। और हम पाते हैं कि दुर्भाग्य से लगभग घटित भी यही हुआ।

इधर अंतर्राष्ट्रीय आवारा पूँजीवाद के गर्भ से निकले बाजारवाद के संपोषण के लिए नई आर्थिक नीति के नाम पर जारी तथाकथित उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की खतरनाक प्रक्रिया ने हमारे दुर्भाग्य को और बढ़ा दिया है। हम फिर नये सिरे से बहुराष्ट्रीय कंपनियों के उपनिवेश में बदलते जा रहे हैं और आंतरिक उपनिवेश की भी नई प्रक्रिया बड़ी तेजी से जारी है। दस-बीस करोड़ भारतीय शेष अस्सी-नब्बे करोड़ भारतीयों का अपना उपनिवेश बनाने पर आमदा हैं। इस तरह से प्रेमचंद के समय के सवाल और हमारे समय के सवाल के बुनियादी चरित्र में कोई बहुत वस्तुगत अंतर प्रतीत नहीं होता है। जो अंतर है वह कुछ तो संरचनागत कारणों से है और कुछ उन में विकसित हो गये नये परिप्रेक्ष्य के कारणों से है और कुछ विकास के नये संदर्भों से नये सिरे से जनमी समस्याओं से है। बहरहाल, ये सवाल क्या हैं? और प्रेमचंद ने इसे किस रूप में देखा था और रचनात्मक स्तर पर उससे निपटने की कैसी कोशिश प्रेमचंद ने की थी यह जानना न सिर्फ दिलचस्प ही होगा बल्कि शिक्षाप्रद भी हो सकता है। प्रेमचंद जैसे महान सांस्कृतिक व्यक्तित्व के संदर्भ से अपने समय के सवालों पर विमर्श करना कोई आसान काम नहीं है। यद्यपि यहाँ विस्तार में जाने की बहुत गुंजाइश भी नहीं है और मुझ जैसे उनके साधारण पाठक में न तो इसके लिए क्षमता ही है तथापि कुछ सवालों पर विचार किया ही जा सकता है और आगे अपेक्षित गंभीरता एवं विस्तार से अधिकारी विद्वानों द्वारा विचार किये जाने की जरूरत को यहाँ रेखांकित करने की पाठकीय कोशिश तो अवश्य ही की जा सकती है। इसी कोशिश के प्रस्ताव के रूप में इस प्रयास को देखा जाना चाहिए।

नारी अस्मिता और मुक्ति का सवाल प्रेमचंद के समय का भी महत्त्वपूर्ण सवाल था और हमारे समय का भी महत्त्वपूर्ण सवाल है । प्रेमचंद नारी अस्मिता के सवालों से पूरी तरह वाकिफ थे यह कहने की जरूरत नहीं है। प्रेमचंद नारी मुक्ति के आकांक्षी थे यह कोई कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं है; और भी महत्त्वपूर्ण यह है कि प्रेमचंद नारी को और उसकी अस्मिता से जुड़े सामाजिक सवालों को जीवन और परिवार के साथ जोड़कर देखने और उसी की परिधि में उन सवालों के जवाब तलाशे जाने के महत्त्व को जानते थे। प्रेमचंद समझते थे और ठीक ही समझते थे कि नारी मुक्ति का सवाल कोई अलग सवाल नहीं है बल्कि समग्र सामाजिक मुक्ति के स्वप्न से जुड़ा हुआ सवाल है। ***बड़े घर की बेटी*** में पारिवारिक द्वंद्व का जिस प्रकार समाधान होता है, उसे ध्यान में रखा

जा सकता है। ***अलग्योझा*, *पूस की एक रात*, *पंच परमेश्वर*, *जुलूस*** आदि कहानियों और उनके उपन्यासों के नारी चरित्रों के गठन को ध्यान में रखा जा सकता है। उनके नारी चरित्र पुरूष चरित्र की अपेक्षा अधिक प्रखर, प्रभावी, प्रगतिशील, केंद्रीय और मुखर है। प्रसंगवश, हमारे समय में इस सवाल के संदर्भ में प्रेमचंद की विरासत के असली दावेदारों का ख्याल आज अवश्य ही उन से बहुत ही भिन्न है। अभिव्यिक्त की स्वतंत्रता के नाम पर वे अपने जनवाद को महाजनवाद में तब्दील करते हुए ***खूबसूरत दुश्मन के साथ होने सोने में*** नारी अस्मिता और मुक्ति के सवाल का हल तलाश करते रहते हैं और हमारे जैसे साधारण पाठक इस पूरे प्रसंग में अपने आपको अजनबी और छला हुआ महसूस करने लगता है। छल यह कि इस प्रकार के आचरण से असली सवाल ही गायब हो जाते हैं। छल यह कि जब पाश्चात्य जगत में परिवार के बिखरे हुए तंतुओं को फिर से जोड़ने के लिए आंदोलन हो रहे हैं हमारे परिवार के अब तक बचे हुए तंतुओं को फिर से सँजोने की कोशिश करने के बदले उन्हें उलझाया और विनष्ट किया जा रहा है। ऐसे में पाठकों को प्रेमचंद की बहुत याद आती है। प्रेमचंद का महत्त्व याद आने के इस निहितार्थ को समझा जाना चाहिए। इसी प्रकार, दलित संदर्भ से प्रेमचंद साहित्य पर विचार किये जाने पर हम सहज ही लक्षित कर सकते हैं कि प्रेमचंद दलितों और पिछड़ों के सवाल को भी उतने ही महत्त्वपूर्ण ढंग से समझ रहे थे और उसके रचनात्मक वितान का संवेदनात्मक आधार तैयार कर रहे थे। प्रेमचंद दलितों और पिछड़ों के सवाल को भी शेष समाज से अलग मानकर नहीं चलते थे। उनके दलित और पिछड़े चरित्र गैर दलित और अगड़े चरित्रों की तुलना में अधिक मानवीय, कारुणिक और तार्किक हैं, प्रतिरोधी और मुखर भी। डॉ. रामविलास शर्मा ने ध्यान दिलाया है कि यद्यपि विभिन्न पेशा के आधार पर जाति के गठन की सामाजिक जाति व्यवस्था रही है लेकिन किसानी जैसे महत्त्वपूर्ण काम को किसी एक जाति से नहीं जोड़ा गया है। लेकिन हम सभी जानते हैं कि जिसे वास्तव में जमींदारी और जिसे किसानी कहते हैं उस जमींदारी और उस किसानी से समाज के किस-किस तबके और जाति के लोग व्यावहारिक और कार्मिक स्तर पर जुड़े रहे हैं। अब अगर प्रेमचंद जमींदारों से अधिक किसानों को अपनी संवेदना से सींचते हैं तो क्या यह अलग से कहने की जगह बची ही रह जाती है कि वे दलितों और पिछड़ों के सामाजिक विकास के पक्षधर और किसी भी स्तर पर उनके शोषण के प्रखर विरोधी थे। **सद्गति, मुक्तिमार्ग, ठाकुर का कुआँ, पूस की एक रात, कफन** आदि कहानियाँ और **होरी, हीरा, गोबर, धनिया, सिलिया, सूरदास, घीसू, माधो** जैसे अगणित चरित्र का गठन क्या कहता है? एक कुलीन स्त्री कुएँ पर पानी भरने गई थी। संयोगवश वह कुएँ में गिर पड़ी। वहाँ खड़ी भीड़ में इतना साहस नहीं था कि कि कोई कुएँ में उतर पाता। हरिजन के कुएँ में उतरने से पानी अपवित्र हो जाता! परिणामत: वह महिला कुएँ में ही डूब कर मर गई। 14 मई 1933 को प्रेमचंद ने इस पर हिमाकत की हद शीर्षक छोटी-सी टिप्पणी लिखी, ***ठाकुर का कुआँ*** के साथ इस टिप्पणी को पढ़ने से उनकी दृष्टि का पता चलता है। अपने समय में हम पाते हैं कि भारतीय संविधान में प्रदत्त कतिपय प्रतिश्रुतियाँ जनता को हासिल नहीं हो पाई है और समग्र रूप से आम आदमी अपने को इस व्यवस्था में ठगा हुआ महसूस करता है, लेकिन इसका कारण वही है जिसका डर महात्मा गाँधी और प्रेमचंद दोनो को था। मि. जॉन की जगह सेठ गोबिंदी का बैठ जाना।

आजादी की लड़ाई के नतीजे को लेकर प्रेमचंद क्यों आशंकित थे? यह एक महत्त्वपूर्ण सवाल हो सकता है। अप्रैल 1930 की उनकी टिप्पणी ***आजादी की लड़ाई*** गौर करने लायक है। अजादी *की लड़ाई में कौन लोग आगे हैं?* इस पर विचार करते हुए प्रेमचंद लिखते हैं *: इस लड़ाई ने हमारे कॉलेजों और युनिवर्सिटियों की कलई खोल दी। हमने आशा की थी कि जैसे अन्य देशों में ऐसी लड़ाइयों में छात्रवर्ग प्रमुख भाग लिया करते हैं, वैसे यहाँ भी होगा; पर ऐसा नहीं हुआ। हमारा शिक्षित समुदाय, चाहे वह सरकारी नौकर हो, या वकील, या पोफेसर, या छात्र, सभी अंग्रेजी सरकार को अपना इष्ट समझते हैं और उनकी हड्डियों पर दौड़ने को तैयार रहते हैं। प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि निन्यानबे सैकड़े ग्रेजुएटों के लिए सभी द्वार बंद हैं; पर निराशा में भी आशा लगाये बैठे हैं कि शायद हमारी ही तकदीर जग जाये। देख रहे हैं, कि कॉंग्रेस के आंदोलन से ही अब थोड़े-से ऊँचे ओहदे हिंदुस्तानियों को मिलने लगे हैं, फिर भी राजनीति को हौआ समझ बैठे हुए हैं। या तो उनमें साहस नहीं, या शक्ति नहीं, या आत्म-गौरव नहीं, उत्साह नहीं। जिस देश के शिक्षित युवक इतने मंदोत्साह हों, उसका भविष्य उज्ज्वल नहीं कहा जा सकता।* आज के शिक्षित लोगों के रवैये से इसे मिलाकर देखने से कैसा दृश्य उभरता है? कैसा दीखता है भविष्य?

आजकल बहुराष्ट्रीय कंपनियों और बजारवाद का घमासान छिड़ा हुआ है। तरह-तरह के विचार हैं इस को लेकर। इस प्रसंग में प्रेमचंद के क्या विचार हो सकते हैं? देखये 28 अगस्त 1933 की उनकी टिप्पणी ***अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बंद कर दो*** *: फोर्टनाइटली रिविउ विलायत का प्रतिष्ठित पाक्षिक पत्र है। उसमें एक अंग्रेज अर्थशास्त्री ने यह विचार प्रकट किया है कि वर्तमान मंदी का मुख्य कारण अंतर्राष्ट्रीय व्यापार है।* फोर्टनाइटली रिविउ में एक अंग्रेज अर्थशास्त्री के इस लेख पर प्रेमचंद की टिप्पणी गौर करने लायक है ***कहीं ऐसा हो जाये, तो भारत मूसलों ढोल बजायवे। हाँ इंग्लैंड के लिए यह पतन का दिन होगा।*** लेकिन प्रेमचंद जानते थे कि ऐसा होने नहीं जा रहा है क्योंकि उन्हें *(अंग्रेजों को) तो घन चाहिए, धन के लिए माल की खपत होना जरूरी है, और माल की खपत के लिए निर्बल देशों का होना लाजिमी है।* मात्रात्मक प्रतिबंध हट जाने के बाद डंपिंग की आनेवाली समस्या से प्रेमचंद की इस राय को मिला कर पढ़ने से क्या यह आज भी उतना ही प्रासंगिक नहीं लगता है!

सांप्रदायिकता हमारे समय का मारक सवाल है, प्रेमचंद के समय में यह समस्या और भी जटिल थी। प्रेमचंद क्या सोचते थे? देखना चाहिए 18 दिसंबर 1933 की उनकी टिप्पणी ***सांप्रदायिक समस्या का राष्ट्रीय समन्वय***। डॉ. इकबाल और नेहरू जी के संबंधित बहस में हस्तक्षेप करते हुए प्रेमचंद *संस्कृति क्या है* पर विचार करते हैं। और कहते हैं कि *हमारे इस ख्याल में संस्कृति के दो रूप हैं, एक बाह्य जगत से संबंध रखनेवाली, दूसरीअंतर्जगत से। बाह्य संस्कृति का संबंध भाषा, पहनावा, शिष्टाचार , शादी-व्यवहार आदि से है आंतरिक संबंध धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों से है। इस कसौटी पर मुसलिम संस्कृति को कसिये तो मालूम होगा कि प्रत्येक प्रांत में हिंदू और मुसलिम जनता की भाषा एक है, पहनावा एक है, शादी-ब्याह की परिपाटी भी एक है। अवध या बुंदेलखंड के किसी मुसलिम या हिंदू किसान में ऐसा कोई अंतर न मिलेगा, जो*

एक को दूसरे से अलग कर सके। और आंतरिक विभिन्नता तो इससे भी कम है। जीवन के विषय में दोनों का दृष्टिकोण एक है, दोनों धार्मिक हैं, दोनों ही भाग्यवादी हैं, दोनों ही शांतिप्रिय हैं, दोनों ही संतोषी हैं। आगे वे लिखते हैं हाँ इधर कुछ दिनों से दोनों ओर से मौलवी और पंडित सांप्रदायिक मनोवृत्तियों को जगाने की चेष्टा कर रहे हैं।

आजादी की लड़ाई में पाकिस्तान का संदर्भ उभर आया था। इस महाविपत्ति की परिणति देश के विभाजन में हुई। इस विभाजन के दंश से हम आज भी उबर नहीं पाये हैं। इस ऐतिहासिक प्रसंग पर 14 मई 1933 की प्रेमचंद की टिप्पणह याद किये जाने लायक है। ***पाकिस्तान की नई उपज*** : *डॉ. सर मुहम्मद इकबाल पच्छिम में मुसलिम राज्य का स्वप्न देख रहे हैं। अब उनके भी उस्ताद निकल आये हैं वह पाकिस्तान के नाम से एक मुसलिम साम्राज्य का स्वप्न देख र हे हैं। इस पाकिस्तान में कश्मीर, पंजाब, बलोचिस्तान, सीमाप्रांत और अफगानिस्तान आदि सम्मिलित होंगे और वह भारतवर्ष से बिल्कुल पृथक होगा। आविष्कारक महोदय का कथन है कि इन पांतों में तीन करोड़ मुसलमान आबाद हैं, जो हालैंड, स्पेन, बेलजियम आदि देशों से अधिक है। उधर ईरान, तुर्किस्तान, शाम, इराक, मिस्र, तुर्की मुसलिम रियासतें पहले से हैं। यह पाकिस्तान सूबा उनके साथ मिल गया, तो एक महान मुसलिम साम्राज्य का उदय हो जायेगा और इसलाम के इतिहास में जो बात पहले कभी नहीं हुई थी, वह हो जायेगी! बात तो बहुत अच्छी है; पर कुछ कारण ही तो है कि अभी तक तुर्की और ईरान में मेल नहीं हो सका। मेल का जिक्र ही क्या अभी थोड़े दिन पहले वैमनस्य हो गया था। फिर अफगानिस्तान क्यों नहीं तुर्की से जा मिला! अैर तुर्किस्तान को अफगानिस्तान से मिलने में कौन बाधक हो रहा है! अगर धर्म ही राष्ट्रों को मिला दिया करता तो जर्मनी और फ्रांस और इटली आदि राष्ट्र कब के मिल चुके होते।*

प्रेमचंद के दृष्टिकोण में सराहनीय संतुलन का समावेश मिलता है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री की किताब साहित्य मंडल देहली ने *इसलाम का विष-वृक्ष* नाम से प्रकाशित की थी। प्रेमचंद ने उस पर 24 जुलाई 1933 को तीखी टिप्पणी करते हुए लिखा *श्री चतुरसेन जी हमारे मित्र हैं। वह विद्वान हैं, मनस्वी हैं, उदार हैं, हम उनसे प्रार्थना करते हैं कि ऐसी जटिल और द्रोहभरी रचनाएँ लिखकर, अपनी प्रतिभा को और हिंदी भाषा को कलंकित न करें और राष्ट्र में जो द्वेष और दोष पहले से ही फैला हुआ है, उस बारूद में आग नलगावें।* हिंदी

भाषा को कलंक से बचाने के लिए प्रेमचंद की चिंता उत्प्रेरक होनी चाहिए। हमारे समय के हिंदी प्रेमी आचार्य और शास्त्री क्या हिंदी भाषा के कलंक और गौरव के संदर्भ में क्या सोचते है, विचार करना चाहिए।

सूचना विस्फोट और शताधिक दरदर्शन चैनलों के साथ इक्कीसवीं सदी में हम आये हैं। प्रेमचंद के समय न तो सूचना का विस्फोट था और न ही जनता के मनोरंजन के लिए इतने सारे चैनल थे, तो भला इसमामले में प्रेमचंद के क्या विचार हो सकते हैं? लेकिन प्रेमचंद के विचार हैं और बड़े गंभीर हैं! देखिये 22 जनवरी 1934 की टिप्पणी ***देहातों पर दया-दृष्टि***। कर्नल हार्डिंग गाँवों में ब्रॉडकास्टिंग के प्रचार का प्रयास कर रहे थे। इसी संदर्भ में प्रेमचंद की यह टिप्पणी है। मिलाइये अपने समय के दूरदर्शन चैनलों के वर्तमान और आशंकित प्रचार-प्रसार की नीति से। टिप्पणी का एक अंश *: बिल्ली बख्शे, मुर्गा लंडूरा ही रहेगा। जिनके पास न खाने को अन्न है और न पहनने को वस्त्र, वह बाडकास्टिंग सुनकर अपना मनोरंजन न करेंगे तो कौन करेगा? व्यापार चलाने की कितनी बढ़िया नीति है। यह व्यापारी मानवी प्रकृति की दुर्बलताओं को खूब समझते हैं और खूब अपना मतलब गाँठते हैं। मनोविज्ञान उनकी व्यवसाय-बुद्धि का मुख्य साधन है। कल्लोंच से कल्लोंच आदमी में भी आमोद-विनोद की प्रवृत्ति होती है। यह व्यवसायी उसी स्थल पर अपना निशाना लगाता है और शिकार मार लेता है।* हम जानते हैं कि अमेरीका जैसे देश की राष्ट्रीय आय का बड़ा जरिया यह मनोरंजन उद्योग ही है।